

प्रज्ञोपनिषद्

प्रथम मंडल

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

लोककल्याण-जिज्ञासा प्रकरण

लोककल्याणकृद् धर्मधारणा संप्रसारकः ।
व्रती यायावरो मान्यो देवर्षिर्ऋषिसत्तमः ॥ १ ॥
अव्याहतगतिं प्राप गन्तुं विष्णुपदं सदा ।
नारदो ज्ञानचर्चार्थं स्थित्वा वैकुण्ठसन्निधौ ॥ २ ॥
लोककल्याणमेवायमात्मकल्याणवद् यतः ।
मेने परार्थपारीणः सुविधामन्यदुर्लभाम् ॥ ३ ॥
काले काले गतस्तत्र समस्याः कालिकीर्मृशन् ।
मतं निश्चित्यस्वीचक्रे भाविनीं कार्यपद्धतिम् ॥ ४ ॥

टीका—लोक कल्याण के लिए जन-जन तक धर्म धारणा का प्रसार-विस्तार करने का व्रत लेकर निरंतर विचरण करने वाले नारद ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ गिने गए और देवर्षि के मूर्द्धन्य सम्मान से विभूषित हुए। एकमात्र उन्हीं को यह सुविधा प्राप्त थी कि कभी भी बिना किसी रोक-टोक विष्णुलोक पहुँचें और भगवान् के निकट बैठकर अभीष्ट समय तक प्रत्यक्ष ज्ञानचर्चा करें। यह विशेष सुविधा उन्हें लोक-कल्याण को ही आत्म-कल्याण मानने की परमार्थ परायणता के कारण मिली। वे समय-समय पर भगवान् के समीप पहुँचते और सामयिक समस्याओं पर विचार करके तदनुरूप अपना मत बनाते और भावी कार्यक्रम निर्धारित करते ॥ १-४ ॥

व्याख्या—परमार्थ में सच्ची लगन यदि किसी में हो तो उसे पुण्य अर्जन के अतिरिक्त आत्मकल्याण का लाभ मिलता है। ऐसे व्यक्ति दूसरों को तारते हैं, स्वयं अपनी नैय्या भी जीवन सागर में खे ले जाते हैं।

नारद ऋषि को भगवान् की विशेष अनुकंपा इसी कारण मिली कि उन्होंने परहित को अपना जीवनोद्देश्य माना। इसके लिए वे निरंतर भ्रमण करते, जन चेतना जगाते व सत्परामर्श देकर लोगों को सन्मार्ग की राह दिखाते थे। ध्रुव प्रहलाद तथा पार्वती को अपने सामयिक मार्गदर्शन द्वारा उन्होंने लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर किया। इसी विभूति ने उन्हें देवर्षि पद से सम्मानित किया तथा भगवान् के सामीप्य का लाभ भी उन्हें मिला। चूँकि वे सतत जन संपर्क में रहते थे व लोक कल्याण में रत रहते थे इसी कारण सामयिक जन समस्याओं के समाधान हेतु वे परामर्श-मार्गदर्शन हेतु प्रभु के पास पहुँचते थे व अपनी भावी नीति का क्रियान्वयन करते थे ऐसे परमार्थ परायण व्यक्ति जहाँ भी होते हैं, सदैव श्रद्धा

सम्मान पाते हैं।

एकदा हृदये तस्य जिज्ञासा समुपस्थिता ।
ब्रह्मविद्यावगाहाय कालं उच्चैस्तु प्राप्यते ॥ ५ ॥
सञ्चितैश्च सुसंस्कारैः कठोरं व्रतसाधनम् ।
योगाभ्यासं तपश्चापि कुर्वन्त्येते यथासुखम् ॥ ६ ॥
सामान्यानां जनानां तु मनसः सा स्थितिः सदा ।
चंचलास्ति न ते कर्तुं समर्था अधिकं क्वचित् ॥ ७ ॥
अल्पेऽपि चात्मकल्याणसाधनं सरलं न ते ।
वर्त्मपश्यन्ति पृच्छामि भगवंतमस्तु तत्त्वयम् ॥ ८ ॥
सुलभं सर्वमर्त्यानां ब्रह्मज्ञानं भवेद् यथा ।
आत्मविज्ञानमेवापि योग-साधनमप्युत ॥ ९ ॥
नातिरिक्तं जीवचर्या दृष्टिकोणं नियम्य वा ।
सिद्ध्येत् प्रयोजनं लक्ष्यपूरकं जीवनस्य यत् ॥ १० ॥

टीका—एक बार उनके मन में जिज्ञासा उठी। उच्चस्तर के लोग तो ब्रह्मविद्या के गहन-अवगाहन के लिए समय निकाल लेते हैं। संचित सुसंस्कारिता के कारण कठोर व्रत-साधन, योगाभ्यास एवं तपसाधन भी कर लेते हैं। किंतु सामान्य-जनों की मनःस्थिति-परिस्थिति उथली होती है। ऐसी दशा में वे अधिक कर नहीं पाते। थोड़े में सरलतापूर्वक आत्मकल्याण का साधन बन सके ऐसा मार्गदर्शन उन्हें प्राप्त नहीं होता। अस्तु भगवान् से पूछना चाहिए। सर्वसाधारण की सुविधा का ऐसा ब्रह्मज्ञान, आत्मविज्ञान एवं योग साधन क्या हो सकता है। जिसके लिए कुछ अतिरिक्त न करना पड़े, मात्र दृष्टिकोण एवं जीवनचर्या में थोड़ा परिवर्तन करके ही जीवन लक्ष्य को पूरा करने का प्रयोजन सध जाए ॥ ५-१० ॥

व्याख्या—जनमानस को स्तर की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक वे जो तत्त्वदर्शन, साधन तपश्चर्या के मर्म को समझते हैं। उतना कठोर पुरुषार्थ करने योग्य पात्रता भी उन्हें पूर्वजन्म के अर्जित संस्कारों व स्वाध्याय परायणता के कारण मिल जाती है। परंतु देवर्षि नारद ने जन-जन में प्रवेश करके पाया कि दूसरे स्तर के लोगों की संख्या अधिक है, जो जीवन व्यापार में उलझे रहने के कारण अथवा साधना विज्ञान के विस्तृत उपक्रमों से परिचित होने का सौभाग्य न मिल पाने के कारण अध्यात्मविद्या के सूत्रों को समझ नहीं पाते व्यवहार में उतार नहीं पाते तथा ऐसे ही उथली स्थिति में जीते हुए किसी तरह अपना जीवन शकट खींचते हैं।

१.२ प्रज्ञोपनिषद्

विशेष लोगों के लिए तो विशेष उपलब्धियाँ हैं। ऐसे असाधारण व्यक्तियों की तो बात ही अलग है उनके जीवन-उपाख्यान यही बताते हैं कि वे विशिष्ट विभूति संपन्न होते हैं।

पिपृच्छां च समाधातुं वैकुण्ठ नारदो गतः।

गत्वा सम्पूज्य देवेशं देवेनापि तु पूजितः ॥ ११ ॥

कुशलक्षेमचर्चातिऽभीष्टे चर्चाऽभवद् द्वयोः।

संसारस्य च कल्याणकामना संयुता च या ॥ १२ ॥

टीका—इस पूछताछ के लिए देवर्षि नारद वैकुण्ठ लोक पहुँचे, नारद ने नमन-वन्दन किया, भगवान् ने भी उन्हें सम्मानित किया। परस्पर कुशलक्षेम के उपरांत अभीष्ट प्रयोजनों पर चर्चा प्रारंभ हुई जो संसार की कल्याण-कामना से युक्त थी ॥ ११-१२ ॥

नारद उवाच

देवर्षिः परमप्रीतः पप्रच्छ विनयान्वितः।

नेतुं जीवनचर्यां वै साधनामयतां प्रभो ॥ १३ ॥

प्राप्तुं च परमं लक्ष्यमुपायं सरलं वद।

समाविष्टो भवेद्यस्तु सामान्ये जनजीवने ॥ १४ ॥

विहाय स्वगृहं नैव गन्तुं विवशता भवेत्।

असामान्या जनार्हा च तितिक्षा यत्र नो तपः ॥ १५ ॥

टीका—प्रसन्नचित्त देवर्षि ने विनयपूर्वक पूछा, देव संसार में जीवनचर्या को ही साधनामय बना लेने और परमलक्ष्य प्राप्त कर सकने का सरल उपाय बताएँ, ऐसा सरल जिसे सामान्य जन-जीवन में समाविष्ट करना कठिन न हो। घर छोड़कर कहीं न जाना पड़े और ऐसी तप-तितिक्षा न करनी पड़े जिसे सामान्य स्तर के लोग न कर सकें ॥ १३-१५ ॥

व्याख्या—भगवान् ने देवर्षि जो प्रश्न पूछ रहे हैं वे सारगर्भित हैं। सामान्यजन भक्ति-वैराग्य तप का मोटा अर्थ यही समझते हैं कि इसके लिए एकांत साधना के मर्म को नहीं जानते। इसी जीवन साधना, प्रभु परायण करने उपवन जाने की आवश्यकता पड़ती है। पर इस उच्चस्तरीय तपश्चर्या के प्रारंभिक चरण जीवन साधना जीवन के विधि-विधानों को जानने, उन्हें व्यवहार में कैसे उतारा जाए इस पक्ष को विस्तार से खोलने की वे भगवान् से विनती करते हैं।

रामायण में काकभुशुंडि जी ने इसी प्रकार का मार्गदर्शन गरुड़जी को दिया है। जीवन साधना कैसे की जाए इसका प्रत्यक्ष उदाहरण राजा जनक के जीवन में भी देखने को मिलता है।

जिज्ञासां नारदस्याथ ज्ञात्वा सम्मुदे हरिः।

उवाच च महर्षे त्वमात्थ यन्मे मनीषितम् ॥ १६ ॥

युगानुरूपं सामर्थ्यं पश्यन्त्र प्रसंगके।

निर्धारणस्य चर्चाया व्यापकत्वं समीप्सितम् ॥ १७ ॥

टीका—नारद की जिज्ञासा जानकर भगवान् बहुत प्रसन्न हुए और बोले, देवर्षि आप तो हमारे मन की बात कह रहे हैं। समय की आवश्यकता को देखते हुए इस प्रसंग पर चर्चा होना और निर्धारण को व्यापक किया जाना आवश्यक भी था ॥ १६-१७ ॥

व्याख्या—जो जिज्ञासा भक्त के मन में घुमड़ रही थी वही भगवान् के भी अंतः में विद्यमान थी। भक्त हमेशा भगवान् की आकांक्षा के अनुरूप ही विचारते हैं एवं अपनी गतिविधियों का खाका बनाते हैं। सच्चे भक्त की कसौटी पर देवर्षि खरे उतरते हैं, जभी वे जन-सामान्य की समस्या को लेकर प्रभु से मार्गदर्शन माँगते हैं।

ऋषिवर नारद से श्रेष्ठ और हो ही कौन सकता था जो सामयिक आवश्यकतानुसार अपने प्रभु के मन की इच्छा जानें व उनकी प्रेरणाओं-समस्याओं के समाधानों को जन-जन के गले उतार सकें।

अधुनास्ति हि सर्वत्राऽनास्था क्रमपरंपरा।

अदूरदर्शिताग्रस्ता जना विस्मृत्यगौरवम् ॥ १८ ॥

अचिंत्यचिंतना जाता अयोग्याचरणास्तथा।

फलतः रोग शोकार्तिक्लहक्लेशनाशजम् ॥ १९ ॥

वातावरणमुत्पन्नं भीषणाश्च विभीषिकाः।

अस्तित्वं च धरित्र्यास्तु संदिग्धं कुर्वतेऽनिशम् ॥ २० ॥

टीका—इन दिनों सर्वत्र अनास्था का दौर है। अदूरदर्शिता ग्रस्त हो जाने से लोग मानवी गरिमा को भूल गए हैं। अचिंत्य-चिंतन और अनुपयुक्त आचरण में संलग्न हो रहे हैं, फलतः रोग, शोक और कलह, भय, विनाश का वातावरण बन रहा है। भीषण-विभीषिकाएँ निरंतर धरती के अस्तित्व तक को चुनौती दे रही हैं ॥ १८-२० ॥

व्याख्या—यहाँ भगवान् आज की परिस्थितियों पर संकेत करते हुए अनास्था की विवेचना करते हैं व वातावरण में संव्याप्त कलुष तथा भयावह परिस्थितियों का कारण श्री श्रद्धा तत्त्व की अवमानना को ही बताते हैं।

मनुष्य के चिंतन और व्यवहार से ही आचरण बनता है। वातावरण से परिस्थिति बनती है और वही सुख-दुःख, उत्थान-पतन का निर्धारण करती है। जमाना बुरा है, कलियुग का दौर है, परिस्थितियाँ कुछ प्रतिकूल बन गई हैं, भाग्य चक्र कुछ उलटा चल रहा है ऐसा कहकर लोग मन को हल्का करते हैं, पर इससे समाधान कुछ नहीं निकलता। जन समाज में से ही तो अग्रदूत निकलते हैं। प्रतिकूलता का दोषी मूर्खन्य राजनेताओं को भी ठहराया जा सकता है, पर भूलना नहीं चाहिए कि इन सबका उद्गम केंद्र मानवी अंतराल ही है। आज की विषम परिस्थितियों को बदलने की जो आवश्यकता समझते हैं, उन्हें कारण तक तह तक जाना ही होगा। अन्यथा सूखे पेड़ को

मुरझाते वृक्ष को हरा बनाने के लिए जड़ की उपेक्षा करते पत्ते सींचने जैसी विडंबना ही चलती रहेगी।

आज अंतः के उद्गम से निकलने तथा व्यक्तित्व व परिस्थितियों का निर्माण करने वाली आस्थाओं का स्तर गिर गया है। मनुष्य ने अपनी गरिमा खो दी है और संकीर्णस्वार्थ परता का विलासी परिपोषण ही उसका जीवन लक्ष्य बन गया है। वैभव संपादन और उद्धत प्रदर्शन, उच्छृंखल दुरुपयोग ही सबको प्रिय है। समृद्धि बढ़ रही है, पर उसके साथ रोग कलह भी प्रगति पर है। प्रतिभाओं की कमी नहीं पर श्रेष्ठता संवर्द्धन व निकृष्टता उन्मूलन हेतु प्रयास ही नहीं बन पड़ते। लोकमानस पर पशु प्रवृत्तियों का ही आधिपत्य है, आदर्शों के प्रति लोगों का न तो रुझान है, न उमंग ही। दुर्भिक्ष संपदा का नहीं आस्थाओं का है। स्वास्थ्य की गिरावट, मनोरोगों की वृद्धि, अपराधवृत्ति तथा उद्वेगता सारे वातावरण में संव्याप्त है और ये ही अदृश्य जगत में उस परिस्थिति को विनिर्मित कर रही हैं, जिसके रहते धरती महाविनाश युद्ध की विभीषिकाओं के बिलकुल समीप आ खड़ी हुई है।

भगवान् ने यहाँ स्पष्ट संकेत युग की समस्याओं के मूल कारण आस्था संकट की ओर किया है। सड़ी कीचड़ में से मक्खी, मच्छर, कृमि कीटक, विषाणु के उभार उठते हैं। रक्त की विषाक्तता फुंसियों के रूप में ज्वर प्रदाह के रूप में, प्रकट होती है। ऐसे में प्रयास कहाँ हो ताकि मूल कारण को हटाया जा सके। अंत की निकृष्टता को मिटाया जा सके। इसी तथ्य की विवेचना वे करते हैं।

ईदृश्यां च दशायां तु स्वप्रतिज्ञानुसारतः।

जाता नवावतारस्य व्यवस्थायाः स्थितिः स्वयम् ॥ २१ ॥

प्रज्ञावतारनाम्ना तु सर्वेषां हि मनःस्थितौ ॥ २२ ॥

परिस्थितौ च विपुलं चेष्टते परिवर्तनम्।

सृष्टिक्रमे चतुर्विंश एष निर्धार्यतां क्रमः ॥ २३ ॥

टीका—ऐसी दशा में अपनी प्रतिज्ञानुसार नए अवतार की व्यवस्था बन गई। प्रज्ञावतार नाम से इस युग का अवतरण भूलोक के मनुष्य समुदाय की मनःस्थिति एवं परिस्थिति में भारी परिवर्तन करने जा रहा है। सृष्टि क्रम में इस प्रकार का यह चौबीसवाँ निर्धारण है ॥ २१-२३ ॥

व्याख्या—आस्था संकट के दौर में भगवान् हमेशा अपनी प्रतिज्ञा पूरी करते हैं ऐसी परिस्थिति में ईश्वरीय सत्ता के अवतरण का उद्देश्य एक ही रहता है। गीता में कहा है

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ॥

गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार

असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहि निज श्रुति सेतु।

जग विस्तारहिं विशद यश, राम जन्म कर हेतु ॥

भावार्थ यह है कि अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना अवतार प्रक्रिया का मूलभूत प्रयोजन है। यह संकल्प विराट है और अनादिकाल से यथावत् चला आ रहा है।

भूतकाल के अवतारों में प्रारंभिक का कार्य क्षेत्र भौतिक परिस्थितियों से जूझना भर था। उसके बाद वालों को अनाचारियों से लड़ना पड़ा। राम को मर्यादा पुरुषोत्तम, कृष्ण को पूर्ण पुरुष और बुद्ध को विवेक का देवता कहा जाता है। प्रज्ञावतार इन सबका उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। उसका कार्य अपेक्षाकृत अधिक कठिन और व्यापक है। उसे मात्र सामयिक समस्याओं एवं व्यक्तिगत उद्वेगताओं से ही नहीं जूझना है वरन् लोकमानस में ऐसे आदर्शों का बीजारोपण, अभिवर्द्धन तथा परिपोषण क्रियान्वयन करना है जो सतयुग जैसी भावना और रामराज्य जैसी व्यवस्था के लिए आवश्यक अंतःप्रेरणा व्यापक क्षेत्र में उत्पन्न कर सकें। लक्ष्य और कार्य की गरिमा एवं व्यापकता को देखते हुए प्रज्ञावतार की कलाएँ चौबीस होना स्वाभाविक है।

बदलती परिस्थितियों में बदलते आधार भगवान् को भी अपनाने पड़े हैं। विश्व विकास की क्रम व्यवस्था के अनुरूप अवतार का स्तर एवं कार्यक्षेत्र भी विस्तृत होता चला गया है। मनुष्य जब तक साधन प्रधान और कार्य प्रधान था तब तक शास्त्र और साधनों के सहारे काम चल गया। आज की परिस्थितियों में बुद्धि तत्त्व की प्रधानता है। मन ही सर्वत्र छाया हुआ है। महत्वाकांक्षाओं के क्षेत्र में अनात्म तत्त्व की भरमार होने से संपन्नता और समर्थता का दुरुपयोग ही बन पड़ रहा है। महामारी सीमित क्षेत्र तक नहीं रही, उसने अपने प्रभाव क्षेत्र में समूची मानव जाति को जकड़ लिया है। विज्ञान ने दुनिया को बहुत छोटी कर दिया है और गतिशीलता को अत्यधिक द्रुतगामी। ऐसी दशा में भगवान् का अवतार युगांतरीय चेतना के रूप में ही हो सकता है। जनमानस के सुविस्तृत क्षेत्र में अपने पुण्य प्रवाह का परिचय देना इसी रूप में संभव हो सकता है, जिसमें कि प्रज्ञावतार के प्रादुर्भाव की सूचना संभावना सामने है।

वरिष्ठता नराणां च श्रद्धाप्रज्ञाऽवलंबिता।

निष्ठाश्रिता च व्यक्तित्वं सर्वेषामत्र संस्थितम् ॥ २४ ॥

न्यूनाधिकत्वहेतोर्हि क्षीयते वर्धते च तत्।

उत्थानसुखजं पातदुःखजं जायते वृत्तिः ॥ २४ ॥

अधुना मानवैस्त्यक्ता श्रेष्ठताऽऽभ्यंतरस्थिता।

फलत आत्मनेऽन्येभ्यः संकटान् भावयति ते ॥ २६ ॥

टीका—मनुष्य की वरिष्ठता श्रद्धा, प्रज्ञा और निष्ठा पर अवलंबित है। इन्हीं की न्यूनाधिकता से उसका व्यक्तित्व

१.४ प्रज्ञोपनिषद्

उठता-गिरता है। इसी व्यक्तित्व के उठने-गिरने के कारण उत्थानजन्य सुखों और पतनजन्य दुःखों का वातावरण बनता है। इन दिनों मनुष्यों ने आंतरिक वरिष्ठता गँवा दी है। फलतः अपने तथा सबके लिए संकट उत्पन्न कर रहे हैं ॥ २४-२६ ॥

व्याख्या—श्रद्धा अर्थात् सद्भाव, प्रज्ञा अर्थात् सद्ज्ञान एवं निष्ठा अर्थात् सत्कर्म। तीनों का समन्वित स्वरूप ही व्यक्तित्व का निर्माण करता है। श्रद्धा अंतःकरण से प्रस्फुटित होने वाले आदर्शों के प्रति प्रेम है। इस गंगोत्री से निःसृत होने वाली पवित्र धारा ही सद्ज्ञान और सत्कर्म से मिलकर पतिपावनी गंगा का स्वरूप ले लेती है। इन तीनों का विकास-उत्थान ही मानव को महामानव बनाता है तथा इस क्षेत्र का पतन ही उसे निकृष्ट स्तर का जीवनयापन करने को विवश करता है।

मनुष्य अपनी वरिष्ठता का कारण अपने वैभव, पुरुषार्थ, बुद्धिबल, धनबल को मानता है, जबकि यह मान्यता नितांत मिथ्या है। व्यक्तित्व का निर्धारण तो अपना ही स्व-अंतःकरण करता है। निर्णय, निर्धारण यहाँ से होते हैं। मन और शरीर स्वामिभक्त सेवक की तरह अंतःकरण की आकांक्षा पूरी करने के लिए तत्परता और स्फूर्ति से लगे रहते हैं। उन्नति-अवनति का भाग्य विधान यहीं लिखा जाता है।

अंतःकरण से सद्भाव न उपजेगा तो सद्ज्ञान व सद्आचरण किस प्रकार फलीभूत होगा? वस्तुतः तीनों ही परस्पर पूरक हैं।

यदा मनुष्यो नात्मानमात्मनोद्धर्तुमर्हति।
कृतावतारोऽलं तस्य स्थितिं संशोधयाम्यहम् ॥ २७ ॥
क्रमेऽस्मिन्सुविधायुक्ताः साधनैः सहिता नरा।
विभीषिकायां नाशस्याऽनास्थासंकटपाशिताः ॥ २८ ॥
तन्निवारणहेतोश्च कालेऽस्मिंश्चलदलोपमे।
प्रज्ञावताररूपेऽवतराम्यत्र तु पूर्ववत् ॥ २९ ॥
त्रयोविंशतिवारं यद्भ्रष्टं संतुलनं भुवि।
संस्थापितं मयैवेतद् भ्रष्टं संतुलयाम्यहम् ॥ ३० ॥

टीका—जब मनुष्य अपने बलबूते दल-दल से उबर नहीं पाते तो मुझे अवतार लेकर परिस्थितियाँ सुधारनी पड़ती हैं। इस बार सुविधा साधन रहते हुए भी मनुष्यों को जिस विनाश विभीषिका में फँसना पड़ रहा है उसका मूल कारण आस्था संकट ही है। उसके निवारण हेतु मुझे इस अस्थिर समय में इस बार प्रज्ञावतार के रूप में अवतरित होना है। पिछले तेईस बार की तरह इस बार भी बिगड़े संतुलन को फिर सँभालना है ॥ २७-३० ॥

व्याख्या—मानवी पुरुषार्थ की भी अपनी महिमा महत्ता है लेकिन जब मनुष्य दुर्बुद्धिजन्य विभीषिकाओं के सामने स्वयं को विवश, असहाय अनुभव करता है, तब परिस्थितियाँ

अवतार प्रकटीकरण की बनती हैं। भगवान् ने हर बार मानवता के परित्राण हेतु असंतुलन की स्थिति में अवतार लिया है और सृष्टि की डूबती नैया को पार लगाया है।

स्रष्टा अपनी अद्भुत कलाकृति विश्व वसुधा को, मानवी सत्ता को सुरम्य वाटिका को विनाश के गर्त में गिरने से पूर्व ही बचाता और अपनी सक्रियता का परिचय देता है तथा परिस्थितियों को उलटने का चमत्कार उत्पन्न करता है। यही अवतार है। संकट के सामान्य स्तर से तो मनुष्य ही निपट लेते हैं, पर जब असामान्य स्तर की विपन्नता उत्पन्न हो जाती है तो स्रष्टा को स्वयं ही अपने आयुध सँभालने पड़ते हैं। उत्थान के साधन जुटाना भी कठिन है पर पतन के गर्त में द्रुतगति से गिरने वाले लोकमानस को उलट देना अति कठिन है। इस कठिन कार्य को स्रष्टा ने समय-समय पर स्वयं ही संपन्न किया है। आज की विषम वेला में भी अवतरण की परंपरा को अपनी लीला संदेह प्रस्तुत करते कोई भी प्रज्ञावान प्रत्यक्ष देख सकता है।

अवतार प्रक्रिया आदिकाल से चली आ रही है, और आदिकाल से अब तक मनुष्य जाति ने अनेक प्रकार के उतार-चढ़ाव देखे हैं। स्वाभाविक ही भिन्न-भिन्न कालों में समस्याएँ और असंतुलन भिन्न-भिन्न प्रकार के रहे हैं।

जब जिस प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं, तब उसी का समाधान करने के लिए एक दिव्य चेतना, जिसे अवतार कहा गया है प्रादुर्भूत हुई है और उसी क्रम से अवतार युग प्रवाह को उलटने के लिए अपनी लीलाएँ रचते रहे हैं। सृष्टि के आरंभ में जल ही जल था। प्राणी जगत में जलचरों की ही प्रधानता थी, तब उस असंतुलन को मत्स्यावतार ने साधा। जब जल और थल पर प्राणियों की हलचलें बढ़ीं तो उनके अनुरूप क्षमता संपन्न कच्छप काया ने संतुलन बनाया। उन्हीं के नेतृत्व में समुद्र मंथन के रूप में प्रकृति दोहन का पुरुषार्थ संपन्न हुआ। हिरण्याक्ष ने समुद्र में छिपी संपदा को ढूँढ़कर उसे अपने ही एकाधिकार में कर लिया तो भगवान् का वाराह रूप ही उसका दमन करने में समर्थ सक्षम हो सका। जब मनुष्य अपनी आवश्यकता से अधिक कमाने में समर्थ हो गया तो संकीर्ण स्वार्थपरता से प्रेरित संचय की प्रवृत्ति भी बढ़ी। संचय और उपभोग की पशु प्रवृत्ति को उदारता में परिणत करने के लिए भगवान् वामन के रूप में छोटे बौने और पिछड़े लोग उठ खड़े हुए और बलि जैसे संपन्न व्यक्तियों को स्वेच्छापूर्वक उदारता अपनाने के लिए सहमत कर लिया गया।

उच्छृंखलता जब उद्धत और उदंड हो जाती है तब शालीनता से उसका शमन नहीं हो सकता। प्रत्याक्रमण द्वारा ही उसका दमन करना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर नरसिंहों

की आवश्यकता पड़ती है और उन्हीं का पराक्रम अग्रणी रहता है। उन आदिम परिस्थितियों में भगवान् ने नर और व्याघ्र का समन्वय आवश्यक समझा तथा नृसिंह अवतार के रूप में दुष्टता के दमन एवं सज्जनता के संरक्षण का आश्वासन पूरा किया।

इसके बाद परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध के अवतार आते हैं। इन सभी का अवतरण बढ़ते हुए अनाचरण के प्रतिरोध और सदाचरण के समर्थन पोषण के उद्देश्य के लिए हुआ। परशुराम ने शस्त्रबल से सामंतवादी निरंकुश आधिपत्य को समाप्त किया। राम ने मर्यादाओं के पालन पर जोर दिया तो कृष्ण ने अपने समय की धूर्तता और छल-छद्म से घिरी हुई परिस्थितियों का दमन विषय विषमौषधम् की नीति अपना कर किया। कृष्ण चरित्र में कूटनीतिक दूरदर्शिता की इसीलिए प्रधानता है कि इस समय की परिस्थितियों में सीधी उँगली से घी नहीं निकल पा रहा था इसीलिए काँटे से काँटा निकालने का उपाय अपनाकर अवतार प्रयोजन को पूरा करना पड़ा।

बुद्ध के बुद्धवाद का स्वरूप विचार क्रांति था। पूर्वार्द्ध में धर्म चक्र का प्रवर्तन हुआ था। धर्म धारणा का सम्मान करते हुए लाखों व्यक्तियों ने उसमें भाव भरा योगदान दिया था। आनंद जैसे मनीषी, हर्षवर्द्धन जैसे प्रतिभाशाली बड़ी संख्या में उस अभियान के अंग बने थे। इससे पिछले अवतारों का कार्यक्षेत्र सीमित रहा था, क्योंकि समस्याएँ छोटी और स्थानीय थीं। बुद्धकाल तक समाज का विस्तार बड़े क्षेत्र में हो गया था इसलिए बुद्ध का अभियान भी भारत की सीमाओं तक सीमित नहीं रहा और उन दिनों जितना व्यापक प्रयास संभव था उतना अपनाया गया। धर्मचक्र प्रवर्तन भारत से एशिया भर में फैला और उससे भी आगे बढ़कर उसने अन्य महाद्वीपों तक अपना आलोक बाँटा।

प्रज्ञावतार, बुद्धावतार का उत्तरार्द्ध है। बुद्धि प्रधान युग की समस्याएँ भी चिंतन प्रधान होती हैं। मान्यताएँ, विचारणाएँ, इच्छाएँ ही प्रेरणा केंद्र होती हैं और उन्हीं के प्रवाह में सारा समाज बहता है। ऐसे समय में अवतार का स्वरूप भी तदनुरूप ही हो सकता है। लोकमानस को अवांछनीयता, अनैतिकता एवं मूढ़ मान्यता से विरत करने वाली विचारक्रांति ही अपने समय की समस्याओं का समाधान कर सकती है।

आज आस्था संकट के कारण मनुष्य सुख-समृद्धि संपन्न होने के बावजूद जिस जंजाल में स्वयं फँसा हुआ है एवं अन्यो के लिए विपत्ति बना हुआ है, उसका निवारण आस्था प्रज्ञारूपी अस्त्र द्वारा ही संभव है।

परस्पर संवाद में वर्तमान स्थिति का विश्लेषण कर भगवान् इसीलिए प्रज्ञावतार के प्रकटीकरण की परिस्थितियाँ देवर्षि को समझाते हैं और पिछले अवतारों का स्मरण दिलाते हुए

इस बार भी विभीषिका निवारण हेतु अपनी शक्तियों का संतुलन स्थापना के लिए आवश्यक प्रतिपादित करते हैं।

निराकारत्वहेतोश्च प्रेरणां कर्तुमीश्वरः।

शरीरिणश्च गृह्णामि गतिसंचालने ततः ॥ ३१ ॥

अपेक्ष्यंते वरिष्ठाश्च आत्मनः कार्यसिद्धये।

अग्रदूतानिमान्कर्तुं पुष्णाम्यविन्ध्य सर्वथा ॥ ३२ ॥

ततो निजप्रभावेण वर्चस्वेन च ते समम्।

समुदायं दिशां नेतुं भिन्नां कुर्युर्वृत्तिं पराम् ॥ ३३ ॥

टीका—निराकार होने के कारण मैं प्रेरणा ही भर सकता हूँ। गतिविधियों के लिए शरीरधारियों का आश्रय लेना पड़ता है इसके लिए वरिष्ठ आत्माएँ चाहिए। इन दिनों अग्रदूत बनाने के लिए उन्हीं को खोजना, उभारना और सामर्थ्यवान् बनाना है। जिससे कि अपने प्रभाव, वर्चस्व से वे समूचे समुदाय की दिशा बदल सकें। समूचे वातावरण में परिवर्तन प्रस्तुत कर सकें ॥ ३१-३३ ॥

व्याख्या—अवतार प्रकटीकरण का हमेशा यही स्वरूप रहा है। भगवान् प्रेरणा देते हैं एवं उस आदर्शवादी प्रेरणा को शरीरधारी क्रिया में परिणत करते हैं। ईश्वरीयसत्ता जब भी अवतरित होती है, उसके साथ लोक कल्याण की भावनाओं से संपन्न देवात्माएँ भी धरती पर अवतरित होती हैं। वरिष्ठ अग्रगामी अवतारों के पार्षदगण ही इस प्रेरणा संचार को ग्रहण करते हैं।

संयुक्तश्च प्रयासोऽयं कर्तव्यो नारद शृणु।

प्रेरयामि तु संपर्कं कुरु साधय पोषय ॥ ३४ ॥

वरिष्ठात्मान एवं च व्यक्त्वा सर्वाः प्रसुप्तिकाः।

युगमानवकार्यं च साधयिष्यंति पोषिताः ॥ ३५ ॥

अनेनागमनं ते तु ममामंत्रणमेव च।

द्वयोः पक्षगतं सिद्धं प्रयोजनमिदं ततः ॥ ३६ ॥

टीका—हे नारद इसके लिए हम लोग संयुक्त प्रयास करें। हम प्रेरणा भरें, आप संपर्क साधें और उभारें। इस प्रकार वरिष्ठ आत्माओं की प्रसुप्ति जागेगी और वे युग मानवों की भूमिका निभा सकने में समर्थ हो सकेंगे। इससे आपके आगमन और हमारे आमंत्रण का उभयपक्षीय प्रयोजन पूरा होगा ॥ ३४-३६ ॥

व्याख्या—संयुक्त प्रयास ही हमेशा फलदायी होते हैं। प्रेरणा निराकार सत्ता की तथा उसका सुनियोजित क्रियान्वयन दोनों मिलकर प्रयोजन को समग्र सफल बनाते हैं।

रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानंद समर्थ गुरु रामदास तथा शिवाजी, श्रीकृष्ण और अर्जुन, राम और हनुमान, स्वामी विरजानंद जी तथा दयानंद ऐसे संयुक्त प्रयासों के उदाहरण हैं। प्रेरणा हमेशा इसी रूप में आती है और पार्षद उसे क्रियान्वित करते हैं।

१.६ प्रज्ञोपनिषद्

भगवान् की चेतना और जाग्रत आत्माओं का सहयोग इस उदाहरण से समझा जा सकता है जिसमें कम शक्ति सामर्थ्य होते हुए भी दो व्यक्ति मिलकर परस्पर पूरक बन गए।

सोत्सुकं नारदोऽपृच्छद्देवात्र किमपेक्ष्यते।

कथं ज्ञेया वरिष्ठास्ते किं शिक्ष्याः कारयामि किम् ॥ ३७ ॥

येन युगसंधिकाले ते मूर्द्धन्या यांतु धन्यताम्।

समयश्चापि धन्यः स्यात्तात् तत्सृज युगविधिम् ॥ ३८ ॥

पूर्वसंचितसंस्काराः श्रुत्वा युगनिमंत्रणम्।

मौनः स्थातुं न शक्यंति चोत्सुक्यात् संगतास्ततः ॥ ३९ ॥

टीका—तब नारद ने उत्सुकतापूर्वक पूछा हे देव इसके लिए क्या करने की आवश्यकता है? वरिष्ठों को कैसे ढूँढ़ा जाए? उन्हें क्या सिखाया जाए और क्या कराया जाए? जिससे युग-संधि की वेला में अपनी भूमिका से मूर्द्धन्य आत्माएँ स्वयं धन्य बन सकें और समय को धन्य बना सकें। भगवान् बोले, तात युग सृजन का अभियान आरंभ करना चाहिए, जिनमें पूर्व संचित संस्कार होंगे, वे युग निमंत्रण सुनकर मौन बैठे न रह सकेंगे, उत्सुकता प्रकट करेंगे, समीप आवेंगे और परस्पर संबद्ध होंगे ॥ ३७-३८ ॥

व्याख्या—जाग्रत आत्माएँ कभी चुप बैठी ही नहीं रह सकतीं। उनके अर्जित संस्कार व सत्साहस युग की पुकार सुनकर उन्हें आगे बढ़ने व अवतार के प्रयोजनों हेतु क्रियाशील होने को बाध्य कर देते हैं।

सत्यात्रतां गतास्ते च तत्त्वज्ञानेन बोधिताः।

कार्याः संक्षिप्तसारेण यदमृतमिति स्मृतम् ॥ ४० ॥

तुलना कल्पवृक्षेण मणिना पारदेन च।

यस्य जाता सदा तत्त्वज्ञानं तत्ते वदाम्यहम् ॥ ४१ ॥

तत्त्वचिंतनतः प्रज्ञा जागर्त्यात्मविनिर्मितौ।

प्राज्ञः प्रसज्जते चात्मविनिर्माणे च संभवे ॥ ४२ ॥

तस्यातिसरला विश्वनिर्माणस्यास्ति भूमिका।

कठिना दृश्यमानापि ज्ञानं कर्म भवेत्ततः ॥ ४३ ॥

प्रयोजनानि सिद्ध्यन्ति कर्मणा नात्र संशयः।

सद्ज्ञानं देव्यास्तस्यास्तु महाप्रज्ञेति यास्मृता ॥ ४४ ॥

आराधनोपासना संसाधनाया उपक्रमः।

व्यापकस्तु प्रकर्तव्यो विश्वव्यापी यथा भवेत् ॥ ४५ ॥

टीका—ऐसे लोगों को सत्यात्र माना जाए और उन्हें उस तत्त्वज्ञान को सार संक्षेप में हृदयगम कराया जाए, जिसे अमृत कहा गया है। जिसकी तुलना सदा पारसमणि और कल्पवृक्ष से होती रही है, वही तत्त्वज्ञान तुम्हें बताता हूँ। तत्व-चिंतन से प्रज्ञा जगती है। प्रज्ञावान् आत्मनिर्माण में जुटता है। जिसके लिए आत्मनिर्माण कर पाना संभव हो सका है, उसके लिए विश्व निर्माण की भूमिका निभा सकना अति सरल है, भले ही वह बाहर से कठिन दीखती हो। ज्ञान ही कर्म बनता है।

कर्म से प्रयोजन पूरे होते हैं, इसमें संदेह नहीं। उस सद्ज्ञान की देवी महाप्रज्ञा है। जिनकी इन दिनों उपासना साधना और आराधना का व्यापक उपक्रम बनना चाहिए ॥ ४०-४५ ॥

व्याख्या—सत्यात्रों को गायत्री महाविद्या का अमृत, पारस, कल्पवृक्ष रूपी तत्त्व ज्ञान दिया जाना इस कारण भगवान् ने अनिवार्य समझा ताकि वे अपने प्रसुप्ति को जगा प्रकाशवान हों ऐसे अनेकों के हृदय को प्रकाश से भर सकें। अमृत अर्थात् ब्रह्मज्ञान वेदमाता के माध्यम से पारस अर्थात् भावना, प्रेम। विश्वमाता के माध्यम से एवं कल्पवृक्ष अर्थात् तपोबल देवत्व की प्राप्ति देवमाता के माध्यम से। ये तीनों ही धाराएँ एक ही महाप्रज्ञा के तीन दिव्य प्रवाह हैं। अज्ञान, अभाव एवं आशक्ति का निवारण प्रत्यक्ष कामधेनु गायत्री के अवलंबन से ही संभव है।

गायत्री ब्रह्मविद्या है। उसी को कामधेनु कहते हैं। स्वर्ग के देवता इसी का पयपान करके सोमपान का आनंद लेते और सदा निरोग, परिपुष्ट एवं युवा बने रहते हैं। गायत्री को कल्पवृक्ष कहा गया है। इसका आश्रय लेने वाला अभावग्रस्त नहीं रहता। गायत्री ही पारस है। जिसका आश्रय, सान्निध्य लेने वाला लोहे जैसी कठोरता कालिमा खोकर स्वर्ण जैसी आभा और गरिमा उपलब्ध करता है। गायत्री ही अमृत है। इसे अंतराल में उतारने वाला अजर-अमर बनता है। स्वर्ग और मुक्ति को जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। यह दोनों ही गायत्री द्वारा साधक को अजस्त्र-अनुदान के रूप में अनायास ही मिलते हैं। मान्यता है कि गायत्री माता का सच्चे मन से अंचल पकड़ने वाला कभी कोई निराश नहीं रहता। संकट की घड़ी में वह तरण-तारिणी बनती है। उत्थान के प्रयोजनों में उसका समुचित वरदान मिलता है। अज्ञान के अंधकार का भटकाव दूर करने और सन्मार्ग का सही रास्ता प्राप्त करके चरम प्रगति के लक्ष्य तक जा पहुँचना गायत्री माता का आश्रय लेने पर सहज संभव होता है।

प्रज्ञा व्यक्ति गत जीवन को अनुप्राणित करती है, इसे ऋतंभरा अर्थात् श्रेष्ठ में ही रमण करने वाली कहते हैं। महाप्रज्ञा इसे ब्रह्मांड में संव्याप्त है। उसे दूरदर्शिता, विवेकशीलता, न्यायनिष्ठा, सद्भावना, उदारता के रूप में प्राणियों पर अनुकंपा बरसाती और पदार्थों को गतिशील सुव्यवस्थित एवं सौंदर्य युक्त बनाती देखा जा सकता है। परब्रह्म की वह धारा जो मात्र मनुष्य के काम आती एवं आगे बढ़ाने, ऊँचा उठाने की भूमिका निभाती है महाप्रज्ञा है। ईश्वरीय अगणित विशेषताओं एवं क्षमताओं से प्राणिजगत एवं पदार्थ जगत उपकृत होते हैं, किंतु मनुष्य को जिस आधार पर ऊर्ध्वगामी बनने परमलक्ष्य तक पहुँचने का अवसर मिलता है उसे महाप्रज्ञा ही समझा जाना चाहिए। इसका

जितना अंश जिसे, जिस प्रकार भी उपलब्ध हो जाता है वह उतने ही अंश में कृतकृत्य बनता है। मनुष्य में देवत्व का दिव्य क्षमताओं का उदय उद्भव मात्र एक ही बात पर अवलंबित है कि महाप्रज्ञा की अवधारणा उसके लिए कितनी मात्रा में संभव हो सकी। महाप्रज्ञा का ब्रह्म विद्या पक्ष अंतःकरण को उच्चस्तरीय आस्थाओं से आनंद विभोर करने के काम आता है। दूसरा पक्ष साधना है, जिसे विज्ञान या पराक्रम कह सकते हैं, इसके अंतर्गत आस्था को उछाला और परिपुष्ट किया जाता है। मात्र ज्ञान ही पर्याप्त नहीं होता। कर्म के आधार पर उसे संस्कार, स्वभाव, अभ्यास के स्तर तक पहुँचाना होता है। साधना का प्रयोजन श्रद्धा को निष्ठा में निर्धारण की अभ्यास की स्थिति में पहुँचाना है। इसलिए अग्रदूतों, तत्त्वज्ञानियों, जीवन मुक्तों एवं जाग्रत आत्माओं को भी साधना का अभ्यास क्रम नियमित रूप से चलाना होता है।

प्राह नारद इच्छायाः स्वकीयाया भवान् मम।

जिज्ञासायाश्च प्रस्तौति यं समन्वयमदभुतम् ॥ ४६ ॥

आत्मा पुलकितस्तेन स्पष्टं निर्दिश भूतले।

प्रतिगत्य च किं कार्यं येन सिद्ध्येत्प्रयोजनम् ॥ ४७ ॥

टीका—नारद ने कहा, हे देव अपनी इच्छा और मेरी जिज्ञासा का आप जो अद्भुत समन्वय प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे मेरी अंतरात्मा पुलकित हो रही है। कृपया स्पष्ट निर्देश कीजिए कि पुनः मृत्युलोक में वापस जाकर मुझे क्या करना चाहिए, ताकि आपका प्रयोजन पूर्ण हो ॥ ४६-४७ ॥

उवाच भगवांस्तात दिग्भ्रान्तान् दर्शयाग्रतः।

यथार्थताया आलोकं सन्मार्गे गंतुमेव च ॥ ४८ ॥

तर्कतथ्ययुतं मार्गं त्वं प्रदर्शय सांप्रतम्।

उपायं च द्वितीयं तं तदाधारसमुद्भवम् ॥ ४९ ॥

उत्साहं सरले कार्ये योजयाभ्यस्ततां यतः।

परिचितं युगधर्मे च गच्छेयुर्मानवाः समे ॥ ५० ॥

चरणौ द्वाविमौ पूर्णावाधारं प्रगतेर्मम।

अवतारक्रियाकर्त्ता चेतना सा युगांतरा ॥ ५१ ॥

टीका—भगवान् बोले, हे तात सर्वप्रथम दिग्भ्रान्तों को यथार्थता का आलोक दिखाना और सन्मार्ग अपनाने के लिए तर्क और तथ्यों सहित मार्गदर्शन करना है, दूसरा उपाय इस आधार पर उभरे हुए उत्साह को किसी सरल कार्यक्रम में जुटा देना है, ताकि युग धर्म से वे परिचित और अभ्यस्त हो सकें। इन दो चरणों के उठ जाने पर आगे की प्रगति का आधार मेरी अवतरण प्रक्रिया युगांतरीय चेतना स्वयमेव संपन्न कर लेगी ॥ ४८-५१ ॥

व्याख्या—युग परिवर्तन का कार्य योजनाबद्ध ढंग से ही किया जा सकता है। सबसे पहले तो सुधारकों अग्रगामियों को अपने सहायक ढूँढ़ने के लिए निकालना होता है उन्हें

उँगली पकड़कर चलना-सिखाना पड़ता है। जब वे अपनी दिशा समझ लेते हैं, उच्चस्तरीय पथ पर चलने के लिए वे सहमत हो जाते हैं, तब उन्हें सुनियोजित कार्यपद्धति समझाकर उनके उत्साह को क्रियारूप देना होता है। यही नीति हर अवतार की रही है। इतना बन पड़ने पर शेष कार्य वह चेतन सत्ता स्वयं कर लेती है।

समस्या तब उठ खड़ी होती है, जब व्यक्ति ईश्वरीय सत्ता की इच्छा, आकांक्षा जानते हुए भी व्यामोह में फँसे दिशा भूले की तरह जीवन बिताते हैं अथवा उद्देश्य को जानते हुए भी अपने उत्साह को सही नियोजित नहीं कर पाते।

नारद उवाच

पप्रच्छ नारदो भगवन् स्पष्टतो विस्तरादपि।

किं नु कार्यं मया ब्रूहि मानवैः कारयामि किम् ॥ ५२ ॥

श्री भगवानुवाच

उवाच भगवाँस्तात हिमाच्छादित एकदा।

उत्तराखंड संशोभिन्यारण्यक शुभस्थले ॥ ५३ ॥

तत्वावधाने प्राज्ञस्य पिप्पलादस्य नारद।

प्रज्ञासत्रसमारंभो जातः पञ्चदिनात्मकः ॥ ५४ ॥

अष्टावक्रः श्वेतकेतुरुद्दालकशृंगिणौ।

दुर्वासाश्चेति जिज्ञासाः पञ्चाकुर्वन् क्रमादिमे ॥ ५५ ॥

तत्त्वदर्शी महाप्राज्ञस्तेषां संमुख एव सः।

संक्षिप्तं ब्रह्मविद्यायाः प्रास्तौत्सारं सममृषिः ॥ ५६ ॥

सर्वसाधारणोऽप्येनं ज्ञातं बोधयितुं क्षमः।

इह लोके परे चायमृद्धिसिद्धिप्रदः स्मृतः ॥ ५७ ॥

तं प्रसंगं, स्मारयामि ध्यानेन हृदये कुरु।

प्रज्ञापुराणरूपे च योजितं यत्नतस्तु तम् ॥ ५८ ॥

वरिष्ठानामात्मानं तु पूर्वं साधारणस्य च।

हृदयंगममेनं, त्वं कारयाद्य महामुने ॥ ५९ ॥

टीका—नारद ने पूछा भगवन् और भी स्पष्ट करें कि क्या करना और क्या कराना है। भगवान् बाले, हे तात एक बार उत्तराखंड के हिमाच्छादित एक शुभ आरण्यक में महाप्राज्ञ पिप्पलाद के तत्वावधान में पाँच दिवसीय प्रज्ञा-सत्र हुआ था। उसमें क्रमशः अष्टावक्र, श्वेतकेतु, शृंगी, उद्दालक और दुर्वासा ने पाँच जिज्ञासाएँ की थीं। तत्त्वदर्शी महाप्राज्ञ ऋषि ने उनके समक्ष ब्रह्मविद्या का सार संक्षेप प्रस्तुत किया था, वह सर्वसाधारण के समझने समझाने योग्य है, साथ ही लोक-परलोक में उभयपक्षीय ऋद्धि-सिद्धियाँ प्रदान करने वाला भी है। उस प्रसंग का तुम्हें स्मरण दिलाता हूँ। ध्यानमग्न होकर हृदयंगम करो, सुनियोजित करो और प्रज्ञापुराण के रूप में सर्वप्रथम वरिष्ठ आत्माओं को तदुपरांत सर्वसाधारण को हृदयंगम कराओ ॥ ५२-५९ ॥

व्याख्या—अध्यात्म विज्ञान के व्यावहारिक शिक्षण की

१.८ प्रज्ञोपनिषद्

विस्तृत कार्य प्रणाली जानने को उत्सुक देवर्षि को भगवान् एक विशिष्ट प्रज्ञासत्र का स्मरण दिलाते हैं। यह ऋषि प्रणाली है कि किसी भी तथ्य का समर्थन, प्रतिपादन प्रत्यक्ष उदाहरणों द्वारा किया जाए। ध्यानमग्न नारद को भगवान् ने ज्ञान सत्रों में हुई चर्चा को संक्षेप में अपनी परावाणी विचार संप्रेषण द्वारा समझा दिया एवं अग्रदूतों तक इसे पहुँचाने उन्हें इस ज्ञान आलोक से प्रकाशित करने का निर्देश भी दिया।

समाधिस्थो नारदोऽभूत्तस्मिन्नेव क्षणे प्रभुः।

प्रज्ञापुराणमेतत्तद्दहृदयस्थमकारयत् ॥ ६० ॥

उवाच च महामेघमंडलीव समंततः।

कुरु त्वं मूसलाधारं वर्षां तां युगचेतनाम् ॥ ६१ ॥

अनास्थाऽऽतपशुष्कां च महर्षे धर्मधारणाम्।

जीवयैतदिदं कार्यं प्रथमं ते व्यवस्थितम् ॥ ६२ ॥

टीका—नारद समाधिस्थ हो गए। भगवान् ने उस समय प्रज्ञापुराण कंठस्थ करा दिया और कहा। इसे युगचेतना की वर्षा मेघों की तरह सर्वत्र बरसाओ। अनास्था के आतप से सूखी धर्मधारणा को फिर से हरी-भरी बना दो। तुम्हारा प्रथम काम यही है ॥ ६०-६२ ॥

व्याख्या—बादलों का काम है बरसना तथा जल अभिसिंचन द्वारा सारी विश्व मानवता को तृप्त करना जहाँ अकाल पड़ा हो वहाँ वर्षा की थोड़ी-सी बूँदें गिरते ही चारों ओर प्रसन्नता का साम्राज्य छा जाता है कुछ ही समय में हरियाली फैली दिखाई पड़ती है। समुद्र से उठने वाली भाप जब बादल बनती है तो उसका एक ही उद्देश्य रहता है वनस्पति जगत तथा सारे जीव जगत में प्राण भर देना।

चेतना विस्तार की यही भूमिका अवतार, महामानव, अग्रदूत, जागृत आत्माएँ निभाती हैं। उनका उद्देश्य भी यही होता है। आस्था संकट का जो मूल उद्गम है अंतःकरण वहाँ वे व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचकर उसके अंदर हलचल मचाते हैं। मरुस्थल बन गए अंतःस्थल में संवेदनाएँ उभारते हैं, आदर्शवादी उत्कृष्टता के प्रति समर्पण की भावना जगाते हैं अवतार की प्रक्रिया यही है। भगवान् ने नारद ऋषि को वही काम सौंपा ताकि प्रस्तुत परिस्थितियों में प्रब्रज्या द्वारा वे जन-जन में प्रज्ञावतार की प्रेरणा भर सकें। परिवर्तन-विचारणा में परिष्कार तथा संवेदनाओं में उत्कृष्टता परायण उभार की ही परिणति है। युग परिवर्तन की प्रक्रिया जो अगले दिनों संपादित होने जा रही है, उसका प्रथम चरण यही है।

महाकाल ने हमेशा बीज रूप में उपयुक्त पात्र को यह संदेश दिया है वही कालांतर में फला और मेघ की भूमिका उसने निभाई है। इसी तथ्य को रामायणकार ने इस तरह समझाया है।

राम सिंधु घन सज्जन धीरा।

चंदन तरु हरि संतसमीरा ॥

अर्थात् भगवान् समुद्र हैं तो सज्जन व्यक्ति बादल के समान। चंदन वृक्ष यदि भगवान् हैं तो संत पवन की तरह मलयज सुगंध को फैलाने वाले। भगवान् से अर्थ है आदर्शवादिता का समुच्चय। मेघ व पवन की ही भाँति संत व सज्जन उस युगचेतना को विस्तारित करते हैं, असंख्यों को धन्य बनाते हैं।

उवाच नारदो देव, वाच्यः श्राव्यस्त्वयं मतः।

ज्ञानपक्षः पूरकं तं कर्मपक्षं विबोधय ॥ ६३ ॥

कर्तव्यं यद्यदन्यैश्चाप्यनुष्ठेयं, समग्रता।

उत्पद्यते द्वयोर्ज्ञानकर्मणोस्तु समन्वयात् ॥ ६४ ॥

टीका—नारद बोले, यह ज्ञान पक्ष हुआ। जिसे कहा या सुना जाता है। अब इसका पूरक कर्मपक्ष बताइए, जो करना और कराना पड़ेगा। ज्ञान और कर्म के समन्वय से ही समग्रता उत्पन्न होती है ॥ ६३-६४ ॥

व्याख्या—कोई सिद्धांत अपने आप में अकेला पूर्ण नहीं। प्रयोगपक्ष जाने बिना सारा ज्ञान अधूरा है। क्रिया पक्ष, ज्ञान पक्ष का पूरक है। ब्रह्म ज्ञान तत्त्व चिंतन अपनी जगह है, अनिवार्य भी है, परंतु उसका व्यवहार पक्ष जिसे साधना तपश्चर्या के रूप में जाने बिना वह मात्र मानसिक श्रम और ज्ञान वृद्धि तक ही सीमित रहेगा, उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी। चिकित्सकों को अध्ययन भी करना होता है एवं व्यवहारिक ज्ञान भी प्राप्त करना होता है। यह समग्रता लाए बिना वे चिकित्सक की पात्रता पदवी नहीं पाते।

ऐसा अधूरापन अध्यात्म क्षेत्र में बड़े व्यापक रूप में देखने को मिलता है। ब्रह्म की, सद्गुणों की, आदर्शवादिता की, चर्चा तो काफी लोग करते पाए जाते हैं, परंतु उसे व्यवहार में उतारने, जीवन का अंग बना लेने वाले कम ही होते हैं।

उवाच विष्णुर्ज्ञानार्थं कथा प्रज्ञापुराणजा।

विवेच्या, कर्मणे प्रज्ञाभियानस्य विधिष्वलम् ॥ ६५ ॥

विधयोऽस्य च स्वीकर्तुं प्रगल्भान् प्रेरयानिशम्।

युगस्य सृजने सर्वे सहयोगं ददत्वलम् ॥ ६६ ॥

यथातथा विबोद्ध्यास्ते भावुका अंशदायिनः।

समयस्य च दातारः सोत्साहा उत्स्फुरंतु यत् ॥ ६७ ॥

संयुक्तशक्त्या श्रेष्ठानां दुर्गावतरणोज्ज्वला।

प्रचंडता समुत्पन्ना समस्या दूरयिष्यति ॥ ६८ ॥

टीका—विष्णु भगवान् ने कहा ज्ञान के लिए प्रज्ञा पुराण का कथा विवेचन उचित होगा और कर्म के लिए प्रज्ञा अभियान की बहुमुखी गतिविधियों में से प्रगल्भों को उन्हें अपनाने की प्रेरणा निरंतर देनी चाहिए। युग सृजन में सहयोग करने के लिए सभी भावनाशीलों को समयदान, अंशदान की उमंग

उभारनी चाहिए। वरिष्ठों की इस संयुक्त शक्ति से ही दुर्गावतरण जैसी प्रचंडता उत्पन्न होगी और युग समस्याओं के निराकरण में समर्थ होगी ॥ ६५-६८ ॥

व्याख्या—युग चेतना को व्यापक करने के बाद कर्म में प्रवृत्त होने के लिए भगवान् प्रगल्भों की चर्चा करते हैं। प्रगल्भ अर्थात् साहसी। ऐसे शूरवीर जो सत्प्रयोजनों के लिए कमर कसकर तैयार हो जाएँ।

अवतारों में उच्चस्तरीय वे ही माने जाते हैं जिनमें संत की पवित्रता, सुधारक की प्रखरता के साथ ऋषियों जैसी तत्त्व दृष्टि होती है। वे उत्कृष्टता को समर्पित होते हैं। अहंता के परिपोषण में लगने वाली शक्ति समर्पण के बाद उनके पास इतनी अधिक मात्रा में बच जाती है जिसके आधार पर सामान्य व्यक्ति भी असामान्य काम कर दिखाते हैं। भगवान् कृष्ण, राम, ईसा, दयानंद, गाँधी, गुरुगोविंदसिंह, बुद्ध, मीरा, शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर, समर्थ रामदास ऐसे जीते-जागते प्रमाणों में से हैं जिन्होंने प्रतिकूलता से जूझने का साहस दिखाया व सत्प्रयोजन में लगने के लिए असंख्यों को प्रेरित किया। ऐसे व्यक्तियों का संगठन तो वह प्रचंड चमत्कार कर दिखाता है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

धर्मस्य चेतनां भूयो जीवितां कर्तुमद्य तु।

अधिष्ठात्रीं युगस्यास्य महाप्रज्ञामृतंभराम् ॥ ६९ ॥

गायत्रीं लोकचित्ते तां कुरु पूर्णप्रतिष्ठिताम्।

पराक्रमं च प्रखरं कर्तुं सर्वत्र नारद ॥ ७० ॥

पवित्रतोदारतां तु यज्ञजां च प्रचंडताम्।

प्रखरां कर्तुमेवाद्यानिवार्य मन्यतां त्वया ॥ ७१ ॥

टीका—आज धर्मचेतना को पुनर्जीवित करने के लिए इस युग की अधिष्ठात्री महाप्रज्ञा ऋतंभरा गायत्री को लोकमानस में प्रतिष्ठित किया जाए। हे नारद, पराक्रम की प्रखरता के लिए सर्वत्र यज्ञीय पवित्रता, उदारता एवं प्रचंडता को प्रखर करने की आवश्यकता है ॥ ६९-७१ ॥

व्याख्या—महाप्रज्ञा को अध्यात्म की भाषा में गायत्री कहते हैं। इसके दो पक्ष हैं, एक दर्शन अर्थात् तत्त्वचिंतन अध्यात्म, दूसरा व्यवहार अर्थात् शालीनता युक्त आचरण-धर्म। महाप्रज्ञा की परिणति अंतःक्षेत्र में प्रतिष्ठित होने पर साधक के व्यक्तित्व में आमूलचूल परिवर्तन ला देती है। आत्मिक विभूतियाँ ऋद्धियाँ तथा लोक व्यवहार में प्राप्त संपदा सिद्धियाँ इसी के तत्त्व चिंतन का प्रतिफल हैं।

प्रज्ञापीठस्वरूपेषु युगदेवालया भुवि।

भवंतु तत एतासां सृज्यानामथ नारद ॥ ७२ ॥

सूत्रं संस्कारयोग्यानां प्रवृत्तीनां च सञ्चलेत्।

नृणां येन स्वरूपं च भविष्यत्संस्कृतं भवेत् ॥ ७३ ॥

सहैव पृष्ठभूमिश्च परिवर्तनहेतवे।

निर्मिता स्याद् युगस्यास्तु संधिकालस्तु विंशतिः ॥ ७४ ॥

वर्षाणां, सुप्रभातस्य वेलाऽऽवर्तन हेतुका।

अवाञ्छनीयताग्लानिः सदाशयविनिर्मितिः ॥ ७५ ॥

टीका—हे नारद युग देवालय, प्रज्ञापीठों के रूप में बनें।

वहाँ से सृजनात्मक और सुधारात्मक सभी प्रवृत्तियों का सूत्र-संचालन हो, जिससे मनुष्य का स्वरूप एवं भविष्य सुधरे, साथ ही महान् परिवर्तन के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि भी बनने लगे। युग संधि के बीस वर्ष प्रभात की परिवर्तन वेला की तरह हैं। इसमें अवाञ्छनीयता की गलाई और सदाशयता की ढलाई होगी ॥ ७२-७५ ॥

व्याख्या—नए युग में इन्हीं प्रज्ञा की अधिष्ठात्री गायत्री के मंदिर और यज्ञशालाएँ बननी चाहिए उन्हीं के माध्यम से रचनात्मक कार्य चलने चाहिए। महामना मदनमोहन मालवीय कहा करते थे।

ग्रामे ग्रामे सभाकार्या ग्रामे ग्रामे कथाशुभाः।

पाठशाला, मल्लशाला, प्रतिपर्वा महोत्सवाः ॥

अर्थात् गाँव-गाँव ऐसे देवमंदिर रहें जहाँ से न्याय, पर्व संस्कार मनाने, विद्याध्ययन, आरोग्य संवर्द्धन के क्रियाकृत्य चलते रहें, केवल मंदिरों से काम चलेगा नहीं।

आद्य शंकराचार्य ने जब मान्धाता से यही बात कही तो उन्होंने चार धामों की स्थापना के लिए अपना अक्षय भंडार खोल दिया। इन तीर्थों के माध्यम से धर्म-धारणा विस्तार की कितनी बड़ी सेवा हुई है इसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

मंदिर मात्र पलायनवादी श्रद्धा नहीं, कर्मयोगी निष्ठा जगाएँ तो ही उनकी सार्थकता है।

जब इन देवालयों से जनजागृति केंद्रों के माध्यम से सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन की गतिविधियाँ चलने लगेंगी, तो जन-जन में प्रखरता का उदय होगा तथा परिवर्तन के दृश्य सुनिश्चित रूप से दिखाई पड़ने लगेंगे। प्रस्तुत समय संधि वेला का है। आज संसार के सभी विद्वान्, ज्योतिर्विद, अतींद्रिय दृष्टा इस संबंध में एक मत हैं कि युग परिवर्तन का समय आ पहुँचा। परिस्थितियों की विषमता अपनी चरम सीमा पर है। ऐसे में इन युग देवालयों की भूमिका अपनी जगह बड़ी महत्वपूर्ण है। सूरदास ने लिखा है।

एक सहस्र नौ सौ के ऊपर ऐसी योग पुरै।

सहस्र वर्ष लौंसतयुग बीते धर्म की बेलि चढ़े ॥

अर्थात् २०वीं शताब्दी के अंत में ऐसा ही परिवर्तन होगा जिसके बाद सहस्रों वर्षों के लिए धर्म का सुख-शांति का राज्य स्थापित होगा।

संक्रमण वेला में किस प्रकार की परिस्थितियाँ बनतीं और कैसे घटनाक्रम घटित होते हैं इसका उल्लेख महाभारत

१.१० प्रज्ञोपनिषद्

के वनपर्व में इस प्रकार आता है।

ततस्तु मूले संघाते वर्तमाने युग क्षये।
यदा चंद्रस्यसूर्यस्यतथा तस्य बृहस्पतिः॥
एकराशौ समेष्व्यति प्रयत्स्यति तदा कृतम्।
कालवर्षी च पर्जन्यो नक्षत्राणि शुभानि च।
क्षेमं सुभिक्षामारोग्यं भविष्यति निरामयम्॥

अर्थात् जब एक युग समाप्त होकर दूसरे युग का प्रारंभ होने को होता है, तब संसार में संघर्ष और तीव्र हलचल उत्पन्न हो जाती है। जब चंद्र, सूर्य, बृहस्पति तथा पुष्य नक्षत्र एक राशि पर जाएँगे तब सतयुग का शुभारंभ होगा। इसके बाद शुभ नक्षत्रों की कृपा वर्षा होती है। पदार्थों की वृद्धि से सुख-समृद्धि बढ़ती है। लोग स्वस्थ और प्रसन्न होने लगते हैं।

इस प्रकार का ग्रहयोग अभी कुछ समय पहले ही आ चुका है। अन्यान्य गणनाओं के आधार पर भी यही समय है।

विशिष्ट अवसरों को आपत्तिकाल कहते हैं और उन दिनों आपत्ति धर्म निभाने की आवश्यकता पड़ती है। अग्निकांड, दुर्घटना, दुर्भिक्ष, बाढ़, भूकंप, युद्ध, महामारी जैसे अवसरों पर सामान्य कार्य छोड़कर भी सहायता के लिए दौड़ना पड़ता है। छप्पर उठाने, धान रोपने, शादी-खुशी में साथ रहने, सत्प्रयोजनों का समर्थन करने के लिए भी निजी काम छोड़कर उन प्रयोजनों में हाथ बाँटना आवश्यक होता है। युग संधि में जागरूकों को युग धर्म निभाना चाहिए। व्यक्तिगत लोभ, मोह को गौण रखकर विश्व संकट की इन घड़ियों में उच्चस्तरीय कर्तव्यों के परिपालन को प्रमुख प्राथमिकता देनी चाहिए। यही है परिवर्तन की इस प्रभात वेला में दिव्य प्रेरणा, जिसे अपनाने में हर दृष्टि से हर किसी का कल्याण है।

विभीषिकास्तु विश्वस्य दूरीकर्तुं पुनर्भुवि।
स्वर्ग्यवातावृतिं कर्तुं क्षमानां देवतात्मनाम्॥ ७६ ॥
मानावानां तु संभूतिः कठिना किंतु तत्र ये।
योगदानरतास्तेषां श्रेयः सौभाग्यसंभवः॥ ७७ ॥

टीका—विश्व विभीषिकाओं को निरस्त करने और धरती पर पुनः स्वर्गीय वातावरण उत्पन्न कर सकने वाले देवमानवों का सृजन करने का कार्य कठिन तो है, पर उसमें योगदान देने वालों का श्रेय-सौभाग्य भी कम न मिलेगा ॥ ७६-७७ ॥

व्याख्या—दैवी प्रकोपों विभीषिकाओं के मूल में जितना दोष भौतिक रूप से मानव द्वारा उससे उद्धत रूप से छेड़छाड़ करने का है उससे भी अधिक भ्रष्ट चिंतन और निकृष्ट कर्तव्य का आश्रय लेने वाली मानवी प्रकृति का है। नियति इसी से रुष्ट होती है एवं मानव जाति को सामूहिक रूप से विभीषिकाओं के रूप में उभर कर त्रास देती है।

परिवर्तन की घड़ियाँ असाधारण उलट-पुलट की होती

हैं। असुरता जीवनमरण की लड़ाई लड़ती है और देवत्व उसे पदच्युत कर धरती पर स्वर्ग लाने के दुष्कर कार्य में कई अवरोधों का सामना करता है। यह कार्य कठिन तो है पर असंभव नहीं। भूतकाल में भी ऐसे अवसरों पर यही दृश्य उपस्थित हुए हैं जैसे कि इन दिनों सामने हैं। ऐसे अवसरों पर ही जो देवमानव आगे आते हैं स्वयं श्रेय पाकर धन्य बनते हैं, सारी मानवता को कृतार्थ कर देते हैं।

प्रज्ञावतार की दिव्यसत्ता ही प्रमुख है और इन दिनों वही युग परिवर्तन के संरंजाम जुटा रही है। तो भी समय कर्तृत्व का वहन उसे अकेले नहीं करना है। सेनापति अकेला नहीं लड़ता, सैनिक भी साथ चलते हैं। हाथ अकेला पुरुषार्थ नहीं करता, दस अंगुलियाँ व चौबीस पोर भी अपनी क्षमता के अनुरूप अपने ढंग से उस कर्म कौशल में जुड़े रहते हैं।

जागृतात्मवतामेतं संदेशं प्रापयास्तु मे।
नोपेक्ष्योऽनुपमः कालः क्रियतां साहसं महत्॥ ७८ ॥
महान्तं प्रतिफलं लब्ध्वा कृतकृत्या भवंतु ते।
जन्मन इदमेवास्ति फलमुद्देश्यरूपकम्॥ ७९ ॥
अग्रगामिन एवात्र प्रज्ञासंस्थान निर्मितौ।
प्रज्ञाभियान सूत्राणां योग्याः संचालने सदा॥ ८० ॥

टीका—अस्तु जाग्रत आत्माओं तक मेरा यह संदेश पहुँचाना कि वे इस अनुपम अवसर की उपेक्षा न करें, बड़ा साहस करें, बड़ा प्रतिफल अर्जित करके कृतकृत्य बनें। यही उनके जन्म का उद्देश्य है। जो अग्रगामी हों उन्हें प्रज्ञा संस्थानों के निर्माण तथा प्रज्ञा अभियान के सूत्र संचालन में जुटाना ॥ ७८-८० ॥

व्याख्या—जाग्रत आत्माएँ कभी अवसर नहीं चूकतीं। वे जिस उद्देश्य को लेकर अवतरित होती हैं, उसे पूरा किए बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता। जागृत वे जो अदृश्य जगत में बह रहे प्रकृति प्रवाह को पहचानते हैं, परिवर्तन में सहायक बनते हैं। दूसरे जब आगे चलकर उन परिणामों को देखते हैं तो पछताते हैं कि हमने अवसर की उपेक्षा क्यों कर दी।

साहसादर्शरूपा ये चेतनामुच्चभूमिकाम्।
निजेन बलिदानेन त्यागेनोद्भावयन्ति ये॥ ८१ ॥
आत्मसंतोषमासाद्य लोकसम्मानमेव च।
देवानुग्रहलाभं च कृतकृत्या भवंति ते॥ ८२ ॥

टीका—आदर्श और साहस के धनी अपने त्याग-बलिदान से उच्चस्तरीय चेतना उत्पन्न करते हैं और आत्म संतोष, लोक सम्मान तथा दैवी अनुग्रह के तीन लाभ एक साथ प्राप्त करते तथा धन्य बनते हैं ॥ ८१-८२ ॥

व्याख्या—नवसृजन में अपना सब कुछ लुटा देने वाले कभी घाटे में नहीं रहते। भगवान के काम में लग जाने वाले तीन असामान्य लाभ सहज पा लेते हैं जो एक दूसरे की

प्रतिक्रियाएँ ही हैं। जाग्रत आत्माएँ आदर्शवादिता अपनाकर सत्साहस दिखाती हैं और अंतः में संतोष, बहिरंग में सम्मान सहयोग पाती हैं और ऐसों पर ही दैवी अनुदान बरसते हैं, जो उन्हें कृतकृत्य कर जाते हैं।

पेड़ अपने पते गिराते, जमीन को खाद देते और बदले में जड़ों के लिए उपयुक्त खुराक उपलब्ध करते हैं। फल-फूलों से दूसरों को लाभान्वित करते हैं। यह परमार्थ व्रत आज की चिंतन धारा के अनुसार तो मूर्खता ही ठहराया जाएगा और व्यंग्य उपहास का ही कारण बनेगा। किंतु पर्यवेक्षकों को इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि विश्व-व्यवस्था में ऐसी परिपूर्ण गुंजाइश है कि परमार्थ परायणों को लोक सम्मान ही नहीं दैवी अनुदान भी अजस्र परिमाण में मिलते रहें। पेड़ों को बार-बार नए पल्लव और नए फल-फूल देते रहने में प्रकृति कोताही नहीं बरतती। उदारमना घाटा उठाते लगते भर हैं वस्तुतः वे जो देते हैं उसे ब्याज समेत वसूल कर लेते हैं।

इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित महामानवों में से प्रत्येक ने परमार्थ-परायणता की दूरदर्शितापूर्ण नीति अपनाई है। वे बीज की तरह गले और वृक्ष की तरह फले हैं। इस मार्ग पर चलने के लिए उन्हें प्राथमिक पराक्रम यह करना पड़ा कि संचित कुसंस्कारों की पशु प्रवृत्तियों से जूझें और उन्हें सुसंस्कारी बनने के लिए पूरी तरह दबाया दबोचा और तब छोड़ा जब वे चीं बोल गईं और संकीर्ण स्वार्थपरता से ऊँचे उठकर आदर्शवादी परमार्थ प्रवृत्ति को अंगीकार करने के लिए सहमत हो गईं।

भगवन्तं ततो नत्वा वांछा साम्यं विचार्य च।

प्रज्ञापुराणसंदेशमुपदेष्टुं जन्मं जन्मम् ॥ ८३ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः

श्री विष्णु-नारद-संवादे “लोककल्याणजिज्ञासा” इति प्रकरणो नाम

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

जागृतात्मन प्रज्ञाभियान मार्गे नियोजितुम्।

संकल्प्य धरणीमायात् प्रसन्नहृदयस्तदा ॥ ८४ ॥

सप्तर्षीणां तपोभूमौ विरम्याथ गतक्लमः।

युगांतरचिते रूपे विश्वव्यापी बभूव च ॥ ८५ ॥

टीका—नारद ने भगवान् को नमन किया और उनकी इच्छा में अपनी इच्छा मिलाते हुए जन-जन को प्रज्ञा पुराण का संदेश सुनाने जागृत आत्माओं को प्रज्ञा अभियान प्रयासों में लगाने का संकल्प लेकर, प्रसन्न हृदय धरती पर उतरे। सप्त ऋषियों की तपोभूमि में थोड़ा विराम-विश्राम करके वे युगांतरीय चेतना के रूप में विश्वव्यापी बन गए ॥ ८३-८५ ॥

व्याख्या—नारद ने भगवान् को नमन किया और उनकी इच्छा में अपनी इच्छा मिलाते हुए जन-जन को प्रज्ञा पुराण का संदेश सुनाने जागृत आत्माओं को प्रज्ञा-अभियान प्रयासों में लगाने का संकल्प लेकर, प्रसन्न हृदय धरती पर उतरे। सप्त ऋषियों की तपोभूमि में थोड़ा विराम-विश्राम करके वे युगांतरीय चेतना के रूप में विश्वव्यापी बन गए ॥ ८३-८५ ॥

व्याख्या—भक्त की स्वयं की कोई इच्छा नहीं होती। वह भगवान् का काम करने का संकल्प लेकर जन्मता है व अपने स्व को चेतन शक्ति में घुला देता है। देवर्षि नारद ने अपनी इच्छा को भगवान् की प्रेरणा के साथ मिलाया। एक बार नारद स्वयं मोह में पड़े थे और अपने अहंकार के मद में प्रभु प्रेरणा को समझने में असफल रहे। भगवान् ने उनका मोह भंग किया, उन्हें वास्तविकता से अवगत कराया तब से उन्होंने संकल्प ले लिया कि अब आगे से कभी भी अपनी इच्छा को प्रभु से अलग नहीं रखेंगे।